हिन्दी
साहित्य
गद्याञ्जलि
आचार्य विष्णुदत्त पाण्डेय ''मधुप''

हिन्दी
साहित्य
गद्याञ्जलि

लेखक/प्रकाशक :

आचार्य विष्णुदत्त पाण्डेय

शारदा नगर, बी.आई.डी. लोहरदगा

झारखण्ड - 835302

मो. 9835976162

रूपसज्जा : एन. के. धीमान

मुद्रक : **हवाई प्रिंटर्स**

रादौर (यमुनानगर) हरियाणा ।

प्रथम संस्करण : 1000 प्रतियाँ

श्री मकर संक्रांति 14 जनवरी सन् 2025, सम्वत् 2081

मूल्य : ₹ 50

आचार्य विष्णुदत्त पाण्डेय ''मधुप'' के द्वारा रचित ग्रंथ

1. गणिका सन्त सम्वाद
2. अनुभूतियों की प्रगीताञ्जलि भाग-1
3. अनुभूतियों की प्रगीताञ्जलि भाग-2
4. अनुभूतियों की प्रगीताञ्जलि भाग-3
5. अविश्वासी मित्र (उपन्यास)
6. हिन्दी साहित्य गद्याञ्जलि।

ग्रंथ प्राप्ति का स्थान

आचार्य विष्णुदत्त पांडेय ''मधुप''

शारदा नगर, लोहरदगा (झारखंड)

मो. : 9835976162

अनुक्रमाणिका

प्रस्तावना

अनुभूतियों की शबलता जब शब्दों की चारुता से सम्पृक्त होती है तब किसी विलक्षण नूतन रचना का प्रादुर्भाव होता है। प्रस्तुत गद्याञ्जली इसी भावना की एक परिणति है। इस संकलन में लेखक के मानस पटल पर समय-समय पर उद्वेलित विचार तरंगों का उन्मुक्त प्रस्तुतीकरण परिलक्षित है। वैचारिक जगत के विभिन्न आयामों का अवलोकन इस संकलन में सहज ही संभव है। विषय प्रतिपादन की पटुता एवं सरसता रचनाओं में मूलतत्व के रूप में अनुस्यूत है। संकलन में सम्पादित विषय-वैविध्य सुधी पाठकों के मनोरंजन में यदि सफल होता है तो लेखक के परिश्रम की सार्थकता होगी। संस्कृत साहित्य में सहज सुलभ गद्य के निकष तत्वों को हिन्दी का वैचारिक स्वरूप देकर प्रस्तुत करने का लघु प्रयास प्रस्तुत संकलन में द्रष्टव्य है। वैचारिक यात्रा की विविधता भी इस गद्याञ्जलि की प्रमुख विशेषता है। साहित्यिक सौन्दर्य के प्रति सहज आकर्षण संकलन में प्रस्तुत समस्त रचनाओं का मूलाधार है। अनिंद्य एवं विलक्षण सौन्दर्य बोध हेतु की गई अपरिसमाप्त वैचारिक मात्रा किसी भी रचनाकार का मूल लक्ष्य होता है। इस यात्रा के क्रम में प्रस्फुटित विभिन्न विचार बिन्दुओं को इस रचना में समाहित किया गया है। संस्कृत निष्ठ हिन्दी में प्राञ्जल गद्य रचना सुधी पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करना लेखक का मूल उद्देश्य है। इस रचना के स्वाध्याय से यदि पाठकों को किञ्चित् भी मानसिक सन्तोष प्राप्त होता है तो लेखक अपने परिश्रम को सार्थक समझेगा। पाठकों के अमूल्य सुझावों का सदा स्वागत है।

– विद्वच्चरणचञ्चरीक

आचार्य विष्णुदत्त पाण्डेय ''मधुप''

लेखक परिचय

प्रस्तुत पुस्तक के लेखक आचार्य श्री विष्णु दत्त पाण्डेय जी मेरे पिता जी हैं। आप प्रारम्भ से ही सरल एवं सरस स्वभाव के धनी हैं। आपका जन्म झारखण्ड प्रदेश के अन्तर्गत गुमला जिला के कुलकुपी ग्राम दिनांक 05 जनवरी 1970 को हुआ था। आपके पिता अर्थात मेरे पितामह डॉ विन्ध्येश्वर पाण्डेय (पं. विश्ववसेनाचार्य जी) संस्कृत जगत के एक प्रतिष्ठित विद्वान थे। मेरे पूज्य पितामह डॉ. विन्ध्येश्वर पाण्डेय जी की अनेकानेक लोकोपकारक रचनाएँ प्रकाशित हैं। लेखक की माताजी पूजनीया श्रीमती यज्ञसेनी देवी जी का सान्निध्य और आशीर्वाद वर्तमान में लेखक को प्राप्त है।

प्रारम्भिक शिक्षा– मेरे पिताजी की प्रारम्भिक शिक्षा उत्तरप्रदेश के हमीरपुर जिलान्तर्गत झलोखर ग्राम में हुई, वहीं रहते हुए उन्होंने बुन्देलखण्ड यूनिवर्सिटी झाँसी से अपनी स्नातक की शिक्षा प्राप्त की। इसके बाद वाराणसी जाकर वहाँ से हिन्दी एवं संस्कृत विषय में एम.ए. एवं बी.एड. की शिक्षा प्राप्त की। आपने बी. एच. यू. सम्पूर्णानन्द विश्वविद्यालय एवं काशी विद्यापीठ तीनों ही विश्वविद्यालयों से क्रमशः अपनी उच्च शिक्षा प्राप्त की। तदनन्तर 1996 से लेखक अपने गृहराज्य झारखण्ड के लोहरदगा जिलान्तर्गत शीला अग्रवाल सरस्वती विद्या मंदिर में हिन्दी एवं संस्कृत विषय के आचार्य के पद पर कार्यरत हैं।

संस्कृत शास्त्रों के संस्कार से ओतप्रोत अपने पिता के संसर्ग में बाल्यकाल से ही रहने के कारण मेरे पिताजी साहित्य की ओर अग्रसरित हुए। जिसके फलस्वरूप हिन्दी भाषा को माध्यम बनाकर उन्होंने संस्कृत के प्रभाव को प्रस्तुत करते हुए अपनी लेखनी चलाई। हिन्दी साहित्य के प्रति आपका झुकाव जन्मजात था। अतः बाल्यकाल से ही आपने हिन्दी साहित्य में रचना करना प्रारम्भ कर दिया था।

प्रतिभावान लेखक की प्रमुख रचनाएँ निम्नांकित हैं –

गणिका सन्त सम्वाद, अनुभूतियों की प्रगीताञ्जलि (तीन भागों में), अविश्वासी मित्र (उपन्यास), गद्याञ्जलि।

हिन्दी साहित्य में संस्कृतनिष्ठ रचनाओं को प्रस्तुत करना लेखक का मूल उद्देश्य रहा है। उन्होंने इसके लिए अपनी रचनाओं में यथासम्भव प्रयास किया है।

सुधीपाठकवर्ग प्रस्तुत रचनाओं का रसास्वादन करते हुए अपने अमूल्य सुझाव प्रस्तुत कर सकते हैं, आपके सुझावों का सदा स्वागत है।

अभिनव आनंद पाण्डेय
सिद्धान्तज्योतिषाचार्य (लब्धस्वर्णपदक)

।। संस्मरण ।।

संस्मरण शब्द किसी व्यक्ति विशेष के सामाजिक, वैयक्तिक, बाह्य, आन्तरिक, सामीप्य का सूचक है। यद्यपि लेखक द्वारा वक्ष्यमाण शीर्षक उसके अन्तस्तल के सामीप्य का द्योतक होता है परन्तु लेखक उस स्वानुभूतिजन्य श्रेष्ठ व्यक्तित्व वर्णन के द्वारा अपने पाठक के अन्तःकरण में अपने कथानायक का प्रतिबिम्ब प्रतिस्थापित कर देना चाहता है। इस गुरुतर सामाजिक मनोवैज्ञानिक परिवर्तन में लेखक को जिस सीमा में सफलता प्राप्त होती है उसी अनुपात में उसका लेख वैशिष्ट्य अनुमेय होता है। किन्तु यह परीक्षण भार विदग्ध पाठकों के दायित्व का द्योतक है।

।। नमः शान्ताय तेजसे ।।

(1) ओ महाशक्ते! तू मेरी वैचारिक शक्ति को ऐसी गति दे, जो अमरापगा की प्रशान्त पवित्र धारा के सदृश मन्द-मन्थर हो।

(2) ओ सर्वप्रेरक! तू मेरी चित्तभूमि में उन्हीं परम तत्वों को प्रतिसृजित कर जो पवित्र, परमोपादेय एवं तुम्हारी सात्विक वाणी के सत्य अर्थ के नितान्त सन्निकट हों।

(3) ओ कोटिसूर्य समप्रभ! तू मेरे चित्त प्रदेश में इस प्रकार अपनी सात्विक रश्मि बिखेर जिससे मेरी इच्छाशक्ति तुम्हारी इच्छाशक्ति की सात्विकता एवं महानता के अत्यन्त संनिकट हो जाये तथा उस परिशुद्ध इच्छाशक्ति का मेरी क्रियाशक्ति से पूर्ण तादात्म्य हो जाये।

।। वाङ्मय का सारतत्व ।।

चतुर्दिक् परिदृश्यमान स्थावर जंगमात्मक, नाम रूपात्मक प्रपंच मात्र श्रीमदनन्तशायी, उभयकारणाधिष्ठान श्रीमन्नारायण के चरणारविन्द-मकरंद पान हेतु ही परिस्पंदित है। प्राणि समुदाय की सतोगुणाधारता ही उपर्युक्त स्पन्दालम्बनैक्य में हेतु है। भारतीय आध्यात्मिक चिन्तनधारा की चरम परिणति भी रमावल्लभ के पादारविन्द-सौरभ का अवघ्राण करके ही कृतार्थ हुई। यह बात समस्त आध्यात्मिक वाङ्मय का परिशीलन करने

के पश्चात् स्वतः संविदित हो जाती है।

।।परमार्थ–पथ।।

देवत्व भावना या ईश्वरीय वृत्ति प्राणी के भौतिक कर्म को कुछ महत्व नहीं देती, वह तो पात्र के मनोवर्तन के शौचाशौच से ही उसके भाग्य का निर्माण करती है। इसी सत्य को उद्घाटित करने के उद्देश्य से योगिराज भगवान श्री कृष्ण ने गीता में जिज्ञासु अर्जुन के प्रति ये वाक्य कहे थे–

सर्वधर्मान् परित्यज्य, मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो, मोक्षयिष्यामि मा शुच।।

सामान्य वैदिक–कर्मकाण्ड परायण लकीर का फकीर विप्र यदि अपनी सदोषा मनोवृत्ति से उपर्युक्त श्लोक का निरपेक्ष भाव से मूल्यांकन करे तो उसे निश्चय ही वैदिक कर्मकाण्ड की निस्सारता ही हाथ लगेगी।

।। छायावाद।।

''कविता के क्षेत्र में पौराणिक युग की किसी घटना अथवा देश–विदेश की सुन्दरी के बाह्य आकर्षण से भिन्न जब 'वेदना' के आधार पर स्वानुभूतिमयी अभिव्यक्ति होने लगी, तब हिन्दी में उसे छायावाद के नाम से अभिहित किया गया''। (जयशंकर प्रसाद) कविवर जयशंकर प्रसाद निगदित छायावाद की उपर्युक्त परिभाषा के निकष पर हम छायावाद के आभ्यन्तर आधार के रूप में संवेदनाधारित स्वानुभूतिमयी सौन्दर्य भावना को स्वीकार सकते हैं। यदि कुछ गम्भीर दृष्टि से विचार किया जाय तो निष्कर्षतः हम यही कह सकते हैं कि सौन्दर्य एवं संवेदना ऐसे सुदृढ़ आधार हैं, जिसका अवलम्बन लेकर सृजित काव्य स्वाभाविक रूप से सार्वभौम होगा। सौन्दर्यबोध सूक्ष्मेक्षण सापेक्ष है। बोधाधिकरण मानव मानस योग प्रेरित होकर तटस्थता का स्वभाव आत्मसात् कर लेता है जबकि इसके विपर्यय पक्ष में काव्य प्रेरित होकर, तत्तत् सांसारिक विषयों के मध्य वर्तता हुआ, साथ–साथ

उनके सूक्ष्म सौन्दर्य से चित्त को संस्कारित करता हुआ, अन्तःकरण को प्रक्षालित करता हुआ, अपने संस्कृत भावों को बैखर जगत में लिपि विग्रह से अवतरित करता हुआ तटस्थ रहता है। कथित वैचारिक भूमि पर हम कवि को योगी से एक सोपान उच्चस्थित ही कह सकते हैं। छायाबाद में 'वेदना' सामान्य मनोभाव के अर्थ में परिभाषित है। यद्यपि वेदना का सामान्यतः प्रयोग विषाद के अर्थ में होता है और यह प्रयोग है भी सर्वांशतः शास्त्रानुमोदित। तथापि छायावाद में वेदना (विषाद) को सामान्य मनोवृत्ति माना है। वेदना पुष्ट्यर्थ हम प्रसाद लिखित 'लहर' पुस्तिका के 'अशोक की चिंता' शीर्षक से सामान्य वृत्ति के अर्थ में प्रयुक्त विषाद शब्द युक्त निम्न पंक्तियाँ उद्धृत कर सकते हैं। ''इस नील विषाद गगन में सुख चपला सा दुख घन में, चिर विरह नवीन मिलन में, उलझा है चंचल मन कुरंग। जलता है यह जीवन पतंग।।

।। महारास ।।

कलकलनिनादिनी, मंथरगतिगामिनी, सकलकल्मषक्षालिनी, कलिन्दनन्दिनी के दुग्धधवल सैकतशय्या पर स्निग्ध ज्योत्स्नाविभूषितांगिनी अर्द्धनिशीथिनी में अखिल-कला-कुमुदकलाधर, अकारणकरुणावरुणालय, कर्तुमकर्तुमन्यथाकतुं समर्थ, स्वभक्त मन-मानस हंस त्रिलोक रम्य भगवान श्री कृष्ण स्वहृदयस्थ अनुरागात्मिका वृत्ति की असंख्य तरंगों की समतुल्या गोपांगनाओं के साथ परम पूत स्नेहिल लीला कर रहे थे।

।। चिन्तन बिन्दु ।। (मानव की संकीर्ण परिधि)

मानव के चिन्तन की एक नियत सीमा होती है। वह प्रत्येक विषय का चिन्तन उसी सीमा के अन्तर्गत करता है। जैसे-जैसे व्यक्ति अपनी इस संकीर्ण परिधि का विस्तार करता जाता है उसी अनुपात में उसकी आध्यात्मिक उन्नति भी अनुमेय होती है। भारतीय मनीषा का चरम प्राप्तव्य प्राचीनकाल से ही आध्यात्मिक विश्रान्ति रहा है। उसके समस्त आवेग संवेग मात्र इसी लक्ष्य के प्राप्त्यर्थ प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में भाव जगत में स्पन्दित होते रहे हैं, एवं

विविध शास्त्रों के रूप में व्यावहारिक जगत में लिपि विग्रह से साकार होते रहे हैं अधिकरणपरक अधि उपसर्गपूर्वक आत्मा शब्द से 'अध्यात्म' शब्द व्युत्पन्न है। सर्वप्रथम तो आत्मसत्ता ही विश्व के अधिकांश विचारकों के मत में सन्दिग्ध है। तत्पश्चात् उस आत्मा में अलौकिक अवबोध का आभास तो और भी कल्पनातीत है। अतः भारतीय ज्ञानावबोध सर्वथा साधन सापेक्ष है।

अन्तःकरण ज्ञानाधिकरण है। इस सागर में असंख्य विचार तरंग आन्दोलित होते रहते हैं, किन्तु उन समस्त विचारों का केन्द्र बिन्दु व्यक्ति का अहं तत्व है। व्यक्ति अपने समस्त मनोभावों को अपनी इसी अहमिका वृत्ति के शाण में संकर्षित करके ही उपन्यस्त करता है। अतीन्द्रिय विचारों के प्रति अनुराग मुमुक्षा की प्रथम श्रृंखला है। क्रमशः अपने अहं का निवारण ही सांसारिक बंधन से मुक्ति का कारण है। संसृति का सार्वत्रिक भाग जलधिजा प्राणाधार श्रीमन्नारायण के पादपद्मयुगल की कैंकर्यविधि में सार्वांगिक समर्पिति हेतु ही परिस्पंदित है। यद्यपि वह अपने इस सर्वप्रमुख कर्तव्य के प्रति उपेक्षित दृष्टि हो गया है परन्तु उसके त्रिविध संताप का कारण भी यही उपेक्षा है।

।। स्नेह : एक मौलिक भावना ।।

''मानव हृदय की मौलिक भावना है स्नेह। कभी-कभी स्वार्थ की ठोकर से पशुत्व की, विरोध की प्रधानता हो जाती है।'' कविवर जयशंकरप्रसाद लिखित- 'तितली' नामक उपन्यास से समुद्धृत उपर्युक्त पंक्तियों के अनुसार समस्त मानवीय मनोवृत्तियों की जड़ अनुरागात्मिका वृत्ति है। यदि यह कहा जाये कि स्नेह संसिक्त हृदय ही समग्र कोमल मानसिक वृत्तियों का, जिसमें शिष्टाचार या सभ्यता में प्रयुक्त होने वाले लचीले मनोभाव भी सम्मिलित हैं आदर्श स्थितिपटल बन सकता है तो कोई अतिशयोक्ति न होगी। यह बात हर कोई को मान्य है कि जिस व्यक्ति को स्नेह नहीं मिला अथवा जिसका हृदय पटल स्नेह शून्य रहा है उस व्यक्ति के जीवन में क्रूरता एवं नृशंसता की प्रधानता रहेगी। इसके विपर्यय पक्ष में- जिसका हृदय स्नेह शबलित है, राग रंजित है, प्रेम पूरित है, उसका जीवन सरस एवं

स्वभाव सहृदय रहेगा। वह भावुक होगा। अब प्रश्न उपस्थित होता है कि स्नेह है क्या एवं इसका मानव जीवन में ऐसा प्रभाव क्यों होता है। इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि स्नेह दो हृदयों के आपसी पवित्र बन्धन की संज्ञा है। बाह्य रूप लावण्य एवं आन्तरिक स्वभावादि से पूर्णरुपेण प्रभावित होकर एक हृदय की वृत्तियों का अन्य हृदय पटल पर अपना स्थान या निवास बनाने की चेष्टा को ही स्नेह, प्रेम या रति के नाम से अभिहित किया जाता है। स्नेह के सम्बन्ध में संस्कृत साहित्य के उच्चतम विभूति भवभूति का निम्न कथन दृष्टव्य है-

व्यतिषजति पदार्थानान्तरः कोपि हेतुः, न खलु बहिरुपाधीन् प्रीतयः संश्रयन्ते।
विकसति हि पतंगस्योदये पुण्डरीकं, द्रवति च हिमरश्मावुद्गते चन्द्रकान्तः।।

भावार्थ- दो हृत्पटल को हेतु कोई आन्तरिक ही जोड़ता।
ध्रुव प्रीति गण सब बाह्य कारण का भरोसा छोड़ता।।
पाथोज खिलता उदय पर अतिदूरवर्ती सूर्य के।
होता द्रवित शशिकान्त एवं उदय पर ही चन्द्र के।।

उपर्युक्त कथन से यह सिद्ध हुआ कि प्रेम या स्नेह का सर्जक प्रेमास्पद की आन्तरिक विशेषता ही है न कि बाह्य रूप सौन्दर्य या वचन चातुर्य। इसका यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि बाह्य रूप लावण्य से प्रेम की सृष्टि ही असम्भव है। सौन्दर्य तो आकर्षण का अदृश्य स्वरूप है ही। इससे हृदय में एक प्रकार की आसक्ति की उत्पत्ति भी होती है पर सौन्दर्यजन्य आसक्ति या प्रेम चिरस्थाई नहीं होता है और आन्तरिक गुण से उत्पन्न प्रेम अक्षुण्ण होता है। साहित्यशास्त्र में इसी प्रेम को श्रृंगार के नाम से कहा गया है और उसके वियोग और संयोग दो पक्ष माने गये हैं। हिन्दी के रीतिकालीन कवियों ने भी इन्ही संयोग और वियोग श्रृंगार को ही अपना प्रमुख वर्ण्य विषय माना है। परन्तु रीतिकालीन रीति मुक्त कवियों ने वियोग श्रृंगार को अधिक महत्व दिया है। अब मैं वियोग श्रृंगार का ही या प्रेम के विप्रलम्भ पक्ष का ही कुछ वर्णन करना चाहता हूँ। मानव जीवन द्वन्दों का ताना- बाना है। इस जीवन सरिता में असंख्य लहरें अनवरत हिल्लोलित होती रखती हैं। 'सबके हृदय

में एक बार प्रेम की दीपावली जलती है। 'ध्रुवस्वामिनी' के उपर्युक्त तथ्य को चरितार्थ करती हुई एक घटना मेरे जीवन काल में मेरे साथ घटी। घटना मात्र मानसिक हलचल को जन्म देने वाली हुई न कि कोई शारीरिक क्षति को जन्म देने वाली परन्तु उस मानसिक हलचल का ही इतना महत्व हो गया कि वह शुभ घटना जीवन की एक अविस्मरणीय बात हो गई। उस घटना को मैं काव्यात्मक शैली में कल्पना प्रसूत विचारों से सहृदय हृदया- ह्लादक बनाकर आपके सम्मुख समुपस्थित कर रहा हूँ जो नीचे ध्यातव्य है- एक बार मेरी हृदयस्थ अनुरागात्मिका वृत्ति स्नेह की भावनात्मक प्रणाली से प्रवाहित होकर एक अपरिचित हृदय मन्दिर में अपना आवास बनाना चाहा। हृदय मिले। संसृति मनमोहिनी बनी। कोकिल कुछ अपूर्व आलापने लगा। सरिता कुछ अधिक मोहक मन्थरगति में प्रवाहित होने लगी। प्रकृति ने अंगड़ाई ली। पर ये सुख के क्षणिक दिवस भी शीघ्र ही सरक गये। जीवन की वंशी जिसमें प्रेम स्वर प्रवाहित हो रहा था अब उस वेणु से विरह के स्वर बजने लगे। पूर्व सुखदायी वस्तुयें नितांत दुःखदायी हो गई। साहित्य शास्त्रस्थ विप्रलम्भ श्रृंगार के लक्षण व्यावहारिक जीवन में यथार्थ सिद्ध हुए जीवन एकांगी बन गया। मेरा स्नेहास्पद यद्यपि मेरी अपेक्षा कम संवेदनशील था पर उसका भी मेरे प्रति प्रेम तो था ही। धीरे-2 दोनों के बीच की दूरी बढ़ती गई। दोनों के मंजिल भिन्न-भिन्न निर्धारित हुए।

।। लौकिक और पारलौकिक प्रेम का पार्थक्य।।

लौकिक प्रेम वासनात्मक होता है। और पारलौकिक प्रेम आत्मकल्याणात्मक या चिदात्मक होता है। लौकिक प्रेम में, प्रेमाश्रय के समीप रहने की प्रवृत्ति या आकांक्षा मात्र स्वप्रेमाश्रय द्वारा प्राप्त वासनात्मक मलिनता के लोक दृष्टि से अपने को दूर रखने या बचाने हेतु ही होती है, पर पारलौकिक प्रेम में अपने प्रेमाश्रय के सामीप्य लाभ की प्रबल अभिलाषा का रहस्य तद्गुणानुभव एवं तज्जन्य चरम एवं परम शान्ति के प्रति लोभ या चित्त की परम सात्विक अभीप्सा का उदय है।

मृगतृष्णा- अप्राप्य की प्राप्ति का प्रयत्न ही मृगतृष्णा है।

।। सुभाषित–सौरभ ।।

(1) वयः न्यूनत्व आकर्षक होता है और विद्या न्यूनत्व विकर्षक।

(2) मृत्यु एक भयंकर एवं पूर्ण नग्न सत्य है।

(3) त्रिकाल में एकरस सत्ता ही सत्य है।

(4) वर्तमान की वासना से कलुषित मन को लिए हुए ही कालक्रम से व्यक्ति एक दिन मृत्यु की शीतल गोद में निलीन हो जाता है।

(5) सांसारिक दुःख का कारण वर्तमान की उपेक्षा है।

(6) व्यक्ति मानव से प्रेम नहीं करता बल्कि परिस्थिति से स्नेह करता है।

।। द्वंद्व ।।

एक ओर क्रूर काल की विभीषिका है तो इसरी ओर भाव तत्व सर्वस्व प्रेम है। एक ओर ''मोह सकल व्याधिन्ह कर मूला'' है तो दूसरी ओर ''मानव हृदय की मौलिक भावना है स्नेह''। ऐसे वाक्यों की प्रधानता है। इसी द्वंद्व में मानव मन उलझा हुआ है।

।। सूक्ति ।।

(1) परिस्थितिजन्य जीवन के तनावों एवं मन की अपाप्य के लिए- भटकन के दौर में देखे और भोगे हुए यथार्थ की अभिव्यक्ति ही रचना है।

(2) जीवन के प्रत्येक पहलू को सुन्दर रूप में देखना और उसका यथातथ्य प्रभावोत्पादक वर्णन करने की क्षमता को धारण करना ही कवि जीवन है।

(3) सच्चे कवि की यह विशेषता होती है कि बह अपने जीवन के द्वन्द्व को विश्व में जड़ जंगम व्यापी बना देता है। सुख में जग को हँसा देता है और दुख में रुला देता है।

(4) मौलसिरी की शीतल कोमल छाया में बैठी हुई कमल कोमला विमला के मुख कुमुद पर शारदीय पूर्णिमा के हिमरश्मि की रजत स्निग्ध रश्मि पड़ रही थी जिससे की वह प्रफुल्लित होता हुआ सा दृष्टिगोचर हो रहा था।

।। चिन्तन।।

प्रियतम!

तुम एक बार अपना मनोमोहक रूप सौन्दर्य दिखाकर न जाने किस अतल गहवर में छिप गये। तुम्हें क्या यह ज्ञात नहीं है कि मैं तुम्हारे दर्शन के बिना कितना व्याकुल हूँ। ओह! मैं तुम्हें कहाँ ढूँढूँ। मेरे हृदय में तुम्हारे बिना कितना वैकल्य है। क्या तुम्हें मेरा रोदन शोभन लगता है। अरे! यह तो मेरे विकल अन्तःकरण की दूरदर्शिता है जो तेरे निवास का यथासम्भव अभिज्ञान प्राप्त कर मुझे प्रेरणा प्रदान कर रहा है। उसी प्रेरणा के आधार पर मैं इस विषम मार्ग से अपने ही भाग्योदय के आलोक का अवलम्बन लेकर तुम्हारे द्वार पर आ गया हूँ। मेघमाला इस धरा के देह को सन्तत संसिक्त करने में व्यस्त है। प्रचण्ड प्रभंजन से प्रधर्षित होकर अगणित भूमिरुह भूमिसात हो रहे हैं। दशों दिशायें- कालाकारान्धकार से प्रचित हैं। जल की सायक-निशित बूँदें शरीर को क्षत विक्षत करने में निरत हैं। पर तू अपना विराट कपाट बन्द किये मेरी विषमावस्था से आनन्द ले रहा है। निष्ठुर! मैं जितना तुम्हारे विरहाम्बुधि में निमग्न होता जा रहा हूँ उतना ही तू आनन्द सागर में मग्न होता जाता है। दया नहीं आती तुझे। तुम्हारी एक झलक से मेरी विरहाग्नि उपरत हो जायेगी। पर तू अपने दर्शन का मूल्य सीमा से अधिक ले रहा है। यह तुम्हारे लिए नितान्त अनुचित है। हृदयप्रिय! कम से कम वाणी से तो आश्वासन दे दो। मैं तुम्हारी मृत्युसंजीवनी वाक्सुधा का श्रवणपुट से पान कर परितृप्त हो जाऊँगा पर तू भला मेरे प्रति वचनमात्र का दान भी क्यों करेगा। तू कृपण जो ठहरा। हृदयेश! इस बात से तो मैं समीचीन रूप से अवगत हूँ कि कोई भी सांसारिक पदार्थ मेरे लिए कल्याणकारक नहीं है। तुम्हारे और मेरे आत्यन्तिक मिलन में समस्त पदार्थ- नितान्त बाधक हैं परन्तु क्या मैं तुम्हारी ही मनोमोहिनी माया के वशीभूत होकर सांरारिक पदार्थों में आसक्त नहीं होता? जीव तो सर्वदा से निरवलम्ब एवं निःसहाय है। वह शरीर धारण करने पर जो भी वातावरण अपने सम्मुख पाता है उसी में उलझ जाता है। और मानस पटल के दूषित हो जाने पर शतशः प्रयास करने पर भी पूर्ण

शुद्धि को नहीं पाप्त कर पाता अतः तुम्हारी तरफ उसका झुकाव ही नहीं हो पाता। परन्तु क्या तू इच्छा करने पर उसे अपनी भक्ति नहीं प्रदान कर सकता है? पर ऐसा कर देने पर यह तेरा प्रपंच कैसे चलेगा। तू- बुद्धिमान एवं दूरदर्शी जो ठहरा। मनोहर! जिस प्रकार पति-पत्नी का आत्यन्तिक मिलन वस्त्रावरण के रहते हुए नहीं हो सकता उसी प्रकार तुझसे इस जीव का आत्यन्तिक- सामीप्य मायावरण के रहते हुए एवं जीव के अज्ञानावरण के रहते हुए सम्भव नहीं है। पर सर्वविचक्षण! तू ही विचार कर कि क्या पत्नी अपने बाह्य आवरण को स्वयं हटाती है? नहीं। पति स्वयं उसके और अपने वस्त्रावरणा को हटाता है और उसे उसके अभीप्सित परिरम्भण को प्रदान करता है। उसी प्रकार लीलाधर! तू भी अपने माया के और मेरे अज्ञान के आवरण को दूर करके मेरे हृदयक्षेत्र पर यथेच्छ रूप से लीला कर। यही मेरी हार्दिक कामना है। मैं नितान्त असमर्थ हूँ। सर्वप्रेरक! तू ही मेरी असमर्थता एवं हार्दिक इच्छा को समझने एवं पूर्ण करने में समर्थ है। मेरी अन्तिम यही इच्छा है भक्त मनमानस विहारी। कि-

तुम्हारे हृदय से हृदय को मिलाकर, करूं पार मैं जिंदगीच्छा यही है।
तुम्हारा हमारे हृदय पर सदा ही, रहे एक शासन सदिच्छा यही है।।
तुम्हारा सदा नाम लेता रहूँ मैं, कहू मैं सही प्रीतमेच्छा यही है।
स्वयं को ऋणी मैं रहूँ मानता बस, सुनो जीवनाधार! स्वेच्छा यही है।।

सामाजिक संगठन सामाजिक समुन्नयन सापेक्ष है एवं मानव के व्यक्तिगत जीवन की पूर्ण सार्थकता भगवदभक्ति में ही निहित है। भगवद्भक्ति मानसिक रति का ही एक भेद विशेष है। मानव जीवन विचारों का पुद्गल है। भारतीय विधिनिषेधात्मक धर्म इन विचार तरंगों को ही संस्कृत करता है। संस्कार प्रमुख उद्देश्य होने के कारण भारतीय भाव कलेवर के बाह्य वपु के रूप में संस्कृत भाषा को ही चुना गया।

।। एक अन्योक्ति।।

चक्रवाक शशि सम्मुख मुख कर अपलक देख रहा था।
शीतल रश्मि सुधा निज दृग पुट से कर पान रहा था।।

उसी समय पर एक मेघ से चन्द्र ढंका निस्सम्बल।
चक तो होकर के हताश रह गया युगल करतल मल।।
अर्थ- एक चकवा, चन्द्रमा के सामने मुख करके उसे (चन्द्रमा) निर्मिमेष दृष्टि से देख रहा था एवं अपने नेत्र रूपी पुट (दोना या दोनैया) से शीतल किरण रूपी अमृत का पान कर रहा था किन्तु दुर्भाग्यवश उसी समय एक बादल के टुकड़े के द्वारा वह ढॅक दिया गया और पराधीन हो गया, तब चकवा बेचारा क्या करता अपने दोंनो हाथ मलकर शान्त हो गया।

।। किंचिच्चिन्तनम्।।

श्रीमद्गीर्वाणवाणी परिचरणविधौ धौतचित्तेन येन।
प्रेष्ठा विद्वद्वरेण्याः समुचित पदवीं प्रापिरे शास्त्रनिष्ठाः।।
उन्मीलत्काव्यमाला कुसुम रसनवा स्वाद रोलम्ब धुर्यः।
सोऽयं सौजन्य सिन्धुः शतमिह शरदां राजतां राजमान्यः।।
चतुर्दिक् परिदृश्यमान स्थावर जंगमात्मक,
नामरूपात्मक प्रपंच, मात्र श्रीमदनन्तशायी।
जगन्निवास नारायण के पदपद्म-युगल के मकरंद निषेवण हेतु ही संस्फुरित, स्पन्दित है। यद्यपि इस लक्ष्य की प्राप्ति हेतु किया गया समस्त प्रत्यक्ष एवं परोक्ष प्रयत्न उपर्युल्लिखित तथ्य स्वरूप लक्ष्य की प्राप्ति हेतु ही सम्पादित साधन है, तथापि द्राविण प्राणायाम-निदर्शन निदर्शित साधन, विद्वज्जन विगर्हित ही कथित है। लक्ष्य प्राप्ति में शीघ्रता तन्निकटवर्ती साधन के सम्पादन से ही सम्भव है। मानव अन्तःकरण पूर्वार्जित संस्कारों एवं वर्तमान कर्म-जनित द्वन्द्वात्मक परिणामों से दूषित होता है। माया-प्रेरित होने के कारण वह भौतिक जीवन से परे के तथ्यों का उद्घाटन करने वाले विचारों को भी अपने अस्मिता कलुषित अन्तःकरण से ही स्वीकार करता है। उसे कम से कम आध्यात्मिक विचारों के ग्रहण में तो अपनी अस्मिता की लंगड़ी टांग नहीं ही लगानी चाहिए। किसी सद्गुरु की सन्निधि में सात्विक श्रद्धा मार्जित-मानस से सच्छास्त्रों का सत्तात्पर्य संग्रहीत करके ही जीवन के

सत्सार स्वरूप शार्ङ्गधन्वा का अपरोक्ष साक्षात्कार सम्भव है। गुणत्रय विभाग के आधार पर श्रद्धा भी सात्विक राजस तामस भेद से भगवद्वाणी के द्वारा श्रीमद्भगवद्गीता में त्रिधा स्वीकृत है। चूंकि शास्त्र, श्रद्धा के ही पोषक हैं अतः ये भी त्रिधा हों यह स्वाभाविक ही है। त्रिगुणमिश्रित शास्त्र- समुद्र में मानव मानस जब सन्निविष्ट होता है तो वह भ्रमित हो जाता है। अन्ततः वह स्वसंस्कारानुरूप ही सिद्धान्त भी ग्रहण कर लेता है।